



THE TIMES OF INDIA

Date: 01-10-26

Fine Call By Court

Stringent laws must be applied judiciously. SC sets the record straight, again

TOI Editorials

For the nth time, Supreme Court has held a case of preventive detention illegal, and fined, this time, UP govt Rs 10L. SC imposed the fine for “blurring...the distinction between punitive and preventive jurisdictions, in substance.” The unfortunate reality is, authorities blur this distinction in a case too many. Special laws such as NSA, PSA, and PMLA make bail tough, where routine criminal law allows bail. Courts have repeatedly held that authorities/ govts can’t keep individuals in lockup/ jail under these laws, where the apparent objective is to ensure undertrials don’t stand a chance at bail. Routine criminal law, allowing bail, would suffice in many of these cases. Courts have held special laws give the executive extraordinary power in stringent provisions, but only within tightly defined boundaries.

Allahabad HC had also held govt failed to distinguish between areas of law & order, and public order. If the petitioner was likely to harm law & order only, and not impact public order, then detention under NSA wasn’t legally sustainable. Similarly, J&K quashed a PSA detention last year, because authorities combined two grounds, when the law separates them – acting against security of state, and acting against public order. The difference between law & order, and public order, is not rocket science. What Justice Hidayatullah (Lohia v Bihar 1966) held decades ago bears repeating: “Imagine three concentric circles... ‘Law and order’ represent the largest circle within which is the next circle representing ‘public order’ and the smallest circle represents ‘security of state’ ... An act may affect law & order, but not public order, just as an act may affect public order, but not security of state.”

In case after case, courts have found legal error with preventive detention under special laws. They’ve held that govts stretched their exceptional powers beyond the statute, that requirements for preventive detention weren’t met. That authorities have been fined in such a case is a timely wake-up call.

Bitter pills

The Supreme Court did well to intervene in drug pricing by retailers

Editorial



The Supreme Court has upbraided disparities between the price to retailer (PTR) and the maximum retail price (MRP) of certain drugs, including those used to treat cancers, in some instances up to 1,000%. These drugs are not available over-the-counter, so hospitals often control which brand a patient uses. As a result, pharmaceutical companies compete for the hospitals' business, not patients'. To incentivise a hospital to stock specific drugs, they deliberately specify inflated MRPs while offering the hospital low PTRs, and the hospital can pocket the difference. The practice does not technically amount to a kickback but is one economically, as

manufacturers effectively promise hospitals an embedded financial reward to pick specific products, and leave patients to potentially pay more than the medicines' supply price because hospitals have an incentive to sell brands with the largest margins. When private hospitals also force patients to purchase drugs from on-premise pharmacies — as Competition Commission investigations have established — patients are unable to shop around, undermining normal price competition. So, more affordable equivalent drugs are disadvantaged because of their lower revenue generation potential for hospitals. Patients, meanwhile, face severe financial strain — a concern also flagged by drug regulators in Karnataka and Maharashtra — and could, among those with cancers and chronic conditions, reduce adherence to longer treatment regimens.

The practice arises from a gap in the 2013 Drug (Prices Control) Order, which caps the final maximum price of scheduled drugs, but not the markup on hospitals' transactions. Say the National Pharmaceutical Pricing Authority (NPPA) calculates the market-derived average price of such a drug to be ₹100, making the ceiling ₹116. If a hospital negotiates a PTR of ₹50 from the manufacturer, it can still sell the drug (or bill the government if a drug is state-financed) at ₹116, without breaching the ceiling, and enjoy the difference of ₹66. In a proof-of-concept exercise in 2019, the NPPA capped the trade margins of 42 non-schedule anti-cancer drugs at 30%. The Department of Pharmaceuticals subsequently said prices of 526 brands dropped by up to 91%, suggesting that the MRPs of several cancer drugs included compressible margins. Second, while the Court's suggestion to have a fixed percentage markup across all drugs is appealing, it should accompany a regressive margin that applies a smaller percentage as drug prices increase, to neutralise sellers' incentive to favour more expensive products. Overall, however, the Court is right to highlight this insidious problem, especially after refusing to intervene in Siddharth Dalmia (2025), and while the Union and States have failed to counterbalance the absence of natural market mechanisms to rationalise drug prices.



दैनिक भास्कर

Date: 01-10-26

विकल्पों की तलाश सही रास्ता साबित हो सकता है

संपादकीय

आमतौर पर कूटनीतिक नरमी बरतने वाले विदेश मंत्री जयशंकर अमेरिका से संबंधों को लेकर सख्त दिखे। एशिया सोसायटी पॉलिसी इंस्टिट्यूट द्वारा आयोजित एक संवाद में उन्होंने कहा कि अगर पड़ोस से जारी आतंकवाद को लेकर अमेरिका भारत की चिंता के प्रति संवेदनशील नहीं है तो इसका असर हर किस्म के संबंधों पर पड़ना लाजमी है। ट्रम्प ने सोशल मीडिया पर यूएन में पाक पीएम के भाषण का वह अंश टैग किया था, जिसमें उन्होंने ट्रम्प का ऑपरेशन सिंदूर रोकने के लिए आभार व्यक्त किया था। पाक पीएम ऑपरेशन सिंदूर को गलत ठहराना चाहते थे। ट्रम्प की इस हरकत का मतलब था पाक पीएम की बातों पर सहमति। विदेश मंत्री ने एक सवाल के जवाब में यह भी कहा कि भारत के चीन से संबंध उत्तरोत्तर बेहतर हो रहे हैं। चर्चा में उन्होंने कहा कि हाल में ट्रम्प-जिनपिंग मुलाकात के बाद दोनों देश विश्व व्यापार को लेकर अपनी एक संयुक्त भूमिका बना रहे हैं। इसका परोक्ष मतलब यह होगा कि दोनों मिलकर ग्लोबल ट्रेड को अपने सुविधानुरूप ढालना चाहेंगे। विदेश मंत्री की सलाह थी कि बाकी दुनिया को अब इससे उबरने का साझा प्रयास करना होगा। उनका यह भी मंतव्य था कि गैर-चीनी और गैर-अमेरिकी ट्रेड ब्लॉक बनाना चाहिए, ताकि ट्रेड धुवीकरण के शोषण से बचा जा सके। भारत के नए गैर-चीनी, गैर-अमेरिकी ब्लॉक बनाने के प्रयास का यह भी आशय होगा चीन की जगह भारत का टैरिफ शून्य माल दुनिया के बाजार में जाएगा और दुनिया का सस्ता माल भारत में आएगा।

Date: 01-10-26

लड़कियों के विवाह की उम्र बढ़ाना जरूरी

नीरजा चौधरी, (वरिष्ठ राजनीतिक टिप्पणीकार)



16 दिसंबर 2021 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अध्यक्षता वाले केंद्रीय मंत्रिमंडल ने एक दूरगामी फैसला लिया था, जो देश में महिलाओं के स्वास्थ्य और शिक्षा की स्थिति को बदल सकता था। मंत्रिमंडल ने महिलाओं के विवाह की न्यूनतम कानूनी उम्र को 18 से बढ़ाकर पुरुषों की तरह 21 वर्ष करने के फैसले को मंजूरी दी थी।

इससे पहले एक साल से अधिक समय तक जया जेटली की अध्यक्षता वाली समिति ने इस मुद्दे की पड़ताल की थी और

इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि पुरुषों और महिलाओं के विवाह की आयु को एक कर देना ही उचित होगा। लेकिन उसके बाद जाने किस वजह से इस रिपोर्ट को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया और वह सरकार की किसी भूली-बिसरी अलमारी में धूल खाती रही।

जब मंत्रिमंडल ने यह फैसला लिया था, तब इसे दूरदर्शी कदम माना गया था। इससे बाल विवाह को कम करने में मदद मिलती, जो गैरकानूनी होने के बावजूद देश के कुछ हिस्सों में अब भी जारी है। इससे लड़कियों को विवाह की चिंता से मुक्त होकर स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के लिए भी प्रोत्साहन मिलता और अनेक लड़कियां आगे की पढ़ाई भी कर पातीं।

उम्मीद थी कि इससे भारत के छोटे शहरों और ग्रामीण इलाकों में रहने वाले कई माता-पिता को अपनी बेटियों का जल्द से जल्द विवाह कर देने के लिए समुदाय की ओर से पड़ने वाले दबाव का विरोध करने में मदद मिलती। कानून का डर भी कई बार सामाजिक बहाना उपलब्ध करा देता है।

विवाह की न्यूनतम आयु 21 वर्ष होने के बाद बेटियों को घर पर बैठाए रखने के बजाय कई माता-पिता उन्हें आगे की पढ़ाई के लिए कॉलेज भेजने या कोई विशेष स्किल सीखने के लिए अन्य संस्थानों में दाखिला दिलाने के लिए भी सहर्ष तैयार हो सकते थे।

दिलचस्प बात यह है कि 2018 में हैदराबाद स्थित नंदी फाउंडेशन द्वारा किए गए एक अध्ययन में बड़ी संख्या में लड़कियों से बातचीत की गई थी। भारत के 30 राज्यों और 600 जिलों की 75,000 लड़कियों ने इसमें

हिस्सा लिया था। अध्ययन में पाया गया कि बड़ी संख्या में लड़कियां शादी की उम्र 21 वर्ष करने के पक्ष में थीं।

कई लड़कियों ने भावुक होकर यह भी बताया था कि वे शादी से पहले एक नौकरी करना चाहती हैं, ताकि आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन सकें और जीवन की चुनौतियों का सामना करने के लिए सामाजिक रूप से अधिक आत्मविश्वासी हो सकें। उन्होंने यह भी कहा था कि वे सिलाई-कढ़ाई जैसे पारंपरिक कौशलों तक सीमित नहीं रहना चाहतीं, बल्कि टेक्नोलॉजी आदि से जुड़े आधुनिक कौशल सीखना चाहती हैं।

वास्तव में, युवा महिलाएं हर क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहती हैं और बढ़ भी रही हैं। आज महिलाएं देश का सबसे अधिक आकांक्षी वर्ग हैं। उनका समर्थन हासिल करने के लिए हर राजनीतिक दल कल्याणकारी योजनाओं के जरिए उन्हें अपने पक्ष में करने की कोशिश कर रहा है।

सरकार भी संसद और विधानसभाओं में महिलाओं को एक-तिहाई प्रतिनिधित्व देने वाले महिला आरक्षण विधेयक को लागू करने के लिए उत्सुक है। पश्चिम बंगाल में भाजपा की जीत के बाद सरकार इसे परिसीमन विधेयक के साथ पारित कराने के लिए संसद में दो-तिहाई बहुमत जुटाने की कोशिश कर रही थी।

इसी पृष्ठभूमि में गृह मंत्री अमित शाह ने समान नागरिक संहिता (यूसीसी) के मुद्दे को फिर से सामने रखा है। इसका घोषित उद्देश्य विवाह, तलाक, विरासत और गोद लेने के मामलों में महिलाओं को समान अधिकार देना और देश के अलग-अलग समुदायों पर लागू अलग-अलग धार्मिक निजी कानूनों की जगह एक समान कानून लाना है।

यूसीसी लागू करना भाजपा का कोर एजेंडा रहा है। 18 वर्ष से कम उम्र की लड़की का विवाह भारत में बाल विवाह की श्रेणी में आता है और यह नियम सभी समुदायों पर लागू होता है। विवाह की न्यूनतम आयु को 18 से बढ़ाकर 21 करने का लाभ भी हर समुदाय की लड़कियों को मिलेगा, किंतु इसका स्वरूप समान नागरिक संहिता जैसा लग सकता है।

भाजपा के शीर्ष नेतृत्व को उम्मीद हो सकती है कि 2027 की शुरुआत में होने वाले महत्वपूर्ण चुनावों- खासकर उत्तर प्रदेश में- यूसीसी के मुद्दे पर ध्रुवीकरण की स्थिति पैदा की जा सकती है। यह पार्टी के लिए चुनाव जीतने का आजमाया-परखा तरीका रहा है। लेकिन किसी भी स्वरूप में यूसीसी को लागू करना आसान नहीं है।

अल्पसंख्यक समुदायों- खासकर बड़ी संख्या में मुसलमानों के लिए यूसीसी उनके निजी कानूनों में हस्तक्षेप और अपनी पसंद के धर्म को मानने के उनके मौलिक अधिकार के उल्लंघन के रूप में देखा जाता है। भाजपा के कई एनडीए सहयोगी अपने-अपने राज्यों में चुनाव जीतने के लिए मुस्लिम वोटों पर निर्भर हैं और उन्होंने अमित शाह के इस 'ट्रायल बैलून' पर सावधानी से प्रतिक्रिया दी है।

जद(यू) में कई नेताओं ने इस विचार का विरोध किया है। चिराग पासवान ने अपना फैसला टालते हुए कहा है कि उनकी पार्टी विधेयक के प्रावधानों का अध्ययन करने के बाद ही निर्णय लेगी। टीडीपी ने भी स्पष्ट रुख नहीं अपनाया है, हालांकि उसने कहा है कि वह इस मुद्दे पर बातचीत के लिए तैयार है। अनुपिया पटेल और सुनेत्रा पवार के नेतृत्व वाली एनसीपी (अजित पवार) का रुख भी ऐसा ही रहा है। हालांकि, शिंदे की शिवसेना ने इस कदम का समर्थन किया है।

अब जब 2029 तक भारत के 21 राज्यों में यूसीसी को लेकर चर्चा केंद्र में है (इन राज्यों में भाजपा या उसके एनडीए सहयोगियों की सरकारें हैं और उत्तराखंड पहले ही यूसीसी लागू कर चुका है) तो शायद समय आ गया है कि जेटली समिति की रिपोर्ट को भी अलमारी से निकालकर उस पर नए सिरे से विचार किया जाए।

यूसीसी के विपरीत, महिलाओं के विवाह की उम्र 21 वर्ष करने के निर्णय के विरोध की संभावना कम है। यह आसानी से हासिल किया जा सकने वाला कदम है और इससे करोड़ों महिलाओं की जिंदगी में बड़ा बदलाव आ सकता है। इससे उन्हें शिक्षा, समानता और न्याय के अधिक अवसर मिल सकते हैं। निकट भविष्य में यूसीसी लागू हो पाए या नहीं, इस निर्णय को लागू करना भारत की महिलाओं के लिए एक मजबूत संदेश होगा।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 01-10-26

उमदराज होती दुनिया

संपादकीय

मूडीज रेटिंग की जननांकिकी पर आई एक नई वैश्विक रिपोर्ट एक निरंतर जारी संरचनात्मक बदलाव को रेखांकित करती है। अब दुनिया की 70 फीसदी से अधिक आबादी ऐसे देशों में रहती है जहां प्रजनन दर प्रतिस्थापन स्तर के बराबर या उससे कम है। वैश्विक प्रजनन दर 1950 में प्रति महिला 4.9 बच्चों से घटकर अब करीब 2.2 रह गई है, जो 2.1 के प्रतिस्थापन स्तर से केवल थोड़ी अधिक है। इसका महत्व केवल आबादी की संख्या तक सीमित नहीं है। कामगारों की संख्या कम होने से उत्पादन क्षमता पर दबाव पड़ सकता है जबकि बुजुर्ग आबादी वाले परिवारों की संख्या बढ़ने से खपत, बचत और निवेश के तौर-तरीके बदल सकते हैं तथा पेंशन, स्वास्थ्य सेवा और दीर्घकालिक देखभाल पर दबाव बढ़ सकता है।

कई देशों में यह बदलाव तेजी से हो रहा है। जापान की 30 फीसदी आबादी पहले ही 65 वर्ष से अधिक उम्र की हो चुकी है जबकि दक्षिण कोरिया भी इसी दिशा में बढ़ रहा है। चीन में 65 वर्ष और उससे अधिक उम्र के लोगों की हिस्सेदारी करीब दो दशकों में दोगुनी होकर 7 फीसदी से 14 फीसदी हो गई है। ब्राजील, थाईलैंड और

तुर्किये जैसे देश भी बुजुर्ग होते जा रहे हैं। मूडीज के मुताबिक कुछ विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को वृद्ध होती आबादी की लागत का सामना उस आव स्तर पर करना पड़ रहा है जो विकसित अर्थव्यवस्थाओं के उस दौर से कम है जब वे इसी तरह के बदलाव से गुजर रही थीं।

भारत 2024 के आसपास मूडीज की 'उम्रदराज' हो रहे देशों की श्रेणी में चला गया जब देश की आबादी में 65 वर्ष से अधिक आयु के लोगों की तादाद 7 फीसदी से अधिक हो गई। अनुमान है कि भारत की 65 वर्ष और उससे अधिक उम्र की आबादी 2049 के आसपास 14 फीसदी तक पहुंचकर देश को 'वृद्ध' और 2065 के आसपास 21 फीसदी तक पहुंचकर 'अति वृद्ध' बना देगी। वृद्ध से अति वृद्ध अवस्था में पहुंचने में केवल 16 वर्ष लगने का अनुमान है। 2025 में भारत अपेक्षाकृत युवा बना हुआ है और उसकी 68 फीसदी आबादी 15 वर्ष से 64 वर्ष आयु वर्ग में है। भारत की प्रजनन दर पहले ही घटकर करीब 1.9 हो गई है। सवाल यह है कि क्या भारत अपने बचे हुए जननांकिकीय लाभ को आर्थिक लाभ में बदल सकता है। अनुमानों के मुताबिक 1981 से 2021 के दौरान जननांकिकीय बदलाव भारत की आर्थिक वृद्धि में हर साल 1.9 फीसदी अंक का योगदान दिया। अपने जननांकिकीय ढांचे का पूरा लाभ उठाने के लिए भारत को आयु संरचना के कम अनुकूल होने से पहले बड़ी संख्या में मौजूद युवाओं को रोजगार देना होगा, उन्हें कौशल प्रदान करना होगा और उत्पादक गतिविधियों में लगाना होगा। इस संदर्भ में अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की स्टेट ऑफ वर्किंग इंडिया 2026 रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत अपने जननांकिकीय लाभांश के उच्चतम स्तर के करीब पहुंच रहा है और 2030 के बाद कामकाजी उम्र की आबादी की हिस्सेदारी घटने की उम्मीद है। रिपोर्ट ने उच्च शिक्षा के विस्तार और उपयुक्त स्नातक रोजगार की उपलब्धता के बीच बने हुए अंतर को भी रेखांकित किया है जिसे तेजी से दूर करने की जरूरत है।

भारत की इस कहानी में महिलाओं की प्रमुख भूमिका है। देशों के बीच तुलना में मूडीज ने भारत में महिला श्रम शक्ति भागीदारी दर केवल 32 फीसदी बताई है। विश्व बैंक का अनुमान है कि महिला श्रम शक्ति भागीदारी को बढ़ाकर 50 फीसदी करने से भारत की वार्षिक सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) वृद्धि दर में करीब एक फीसदी अंक की बढ़ोतरी हो सकती है। इसलिए चुनौती केवल महिलाओं को श्रम शक्ति में शामिल करने की नहीं है बल्कि उनके लिए औपचारिक, उत्पादक और बेहतर वेतन वाले रोजगार के अक्सर पैदा करने की भी है। साथ ही, भारत को उस समाज के लिए भी तैयार होना होगा जिसकी ओर वह बढ़ रहा है। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष (यूएनएफपीए) का अनुमान है कि 60 वर्ष और उससे अधिक उम्र के भारतीयों की संख्या 2022 के 15.3 करोड़ से बढ़कर 2050 तक 34.7 करोड़ हो जाएगी।

इसके प्रभाव पेंशन और स्वास्थ्य बीमा से लेकर वृद्धावस्था देखभाल और दीर्घकालिक देखभाल तक होंगे भारत की उभरती 'सिल्वर इकॉनमी' पर हाल की रिपोर्ट भी संगठित वरिष्ठ नागरिक आवास और सहायक देखभाल की सुविधाओं की कमी की ओर इशारा करती हैं। सिल्वर इकॉनमी से तात्पर्य बुजुर्गों की बढ़ती आबादी की जरूरतों और उनसे संबद्ध आर्थिक गतिविधियों से है। प्रौद्योगिकी और आर्टिफिशल इंटेलिजेंस प्रति कर्मचारी उत्पादन बढ़ा सकती हैं और श्रमिकों की कमी को दूर कर सकती हैं लेकिन वे वृद्ध होती आबादी से जुड़ी

राजकोषीय लागत को खत्म नहीं कर सकतीं। भारत के सामने चुनौती यह है कि वृद्ध होने से पहले अधिक समृद्ध कैसे बनें।



Date: 01-10-26

शिक्षा और तनाव

संपादकीय

देशभर में विद्यार्थियों के आत्महत्या करने की बढ़ती घटनाएं एक गंभीर सामाजिक और शैक्षिक चिंता बनती जा रही है। पढ़ाई, परीक्षा और भविष्य को लेकर दबाव कई विद्यार्थियों को मानसिक तनाव की ऐसी स्थिति में पहुंचा देता है, जहां उन्हें समस्याओं के समाधान का कोई रास्ता नजर नहीं आता। यह शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ संस्थानों तथा परिवार एवं समाज से जुड़ा व्यापक मुद्दा है आज के प्रतिस्पर्धी दौर में अच्छे अंक लाने, प्रतिष्ठित संस्थानों में प्रवेश पाने और बेहतर करिअर बनाने की होड़ में विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य सबसे ज्यादा प्रभावित हो रहा है। इसकी पुष्टि सर्वोच्च न्यायालय की ओर से गठित समिति के राष्ट्रव्यापी सर्वेक्षण के नतीजों से भी होती है। इसमें नौ फीसद विद्यार्थियों ने आत्महत्या के विचार आने की बात मानी है, जबकि करीब पंद्रह फीसद विद्यार्थियों ने स्वीकार किया कि पिछले छह महीनों में वे ऐसे दौर से गुजरे, जब उन्होंने खुद को बेहद परेशान या तनावग्रस्त महसूस किया। जाहिर है कि विद्यार्थियों पर दबाव को कम करने और उनकी मानसिक स्वास्थ्य संबंधी चिंताओं को दूर करने के लिए जमीनी स्तर पर ठोस उपाय करने की नितांत आवश्यकता है।

अहम सवाल यह है कि क्या शिक्षण संस्थान महज अंकों की प्रतिस्पर्धा के केंद्र बनकर रह गए हैं। क्या विद्यार्थियों की परेशानियों के समाधान को लेकर संस्थानिक संवेदनशीलता और जिम्मेदारी को हाशिये पर रखा जा रहा है? राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की एक रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2023 में देश भर में तेरह हजार से अधिक विद्यार्थियों ने विभिन्न कारणों से आत्महत्या की। हाल ही में आइआइटी मुंबई में एक छात्र की आत्महत्या की घटना ने एक बार फिर इस मसले पर व्यापक चिंता और व्यवस्था में सुधार की जरूरत को रेखांकित किया है। आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार, वर्ष 2020-21 से 2024-25 के बीच देश के तेईस आइआइटी में विद्यार्थियों की आत्महत्या के पैंतालीस मामले सामने आए। नए सर्वेक्षण के अनुसार, करीब 34 फीसद विद्यार्थियों ने माना कि उन्होंने किसी न किसी स्तर पर परिसर में खुद को बाहरी व्यक्ति जैसा महसूस किया। इससे स्पष्ट है कि शिक्षण संस्थानों में ऐसा माहौल बनाने की जरूरत है, जहां शिक्षा के साथ-साथ भावनात्मक अभिव्यक्ति और शिक्षकों के साथ खुले संवाद को भी महत्व दिया जाए।

शिक्षण संस्थानों में परामर्श की सुविधा का सवाल भी महत्वपूर्ण है। सर्वेक्षण के दौरान बत्तीस फीसद शिक्षार्थियों ने कहा कि उनके संस्थान में परामर्श की सुविधा नहीं है। ऐसी स्थिति में जब स्कूलों से लेकर उच्च संस्थानों तक में पढ़ाई, परीक्षा, करिअर और भविष्य को लेकर बढ़ता दबाव विद्यार्थियों को मानसिक तनाव की ओर धकेल रहा है, तो उनके लिए परामर्श की सुविधा अत्यंत जरूरी हो जाती है। शिक्षा का अर्थ केवल किताबी ज्ञान नहीं, बल्कि इसमें विद्यार्थी का सामाजिक, भावनात्मक, नैतिक और मानसिक विकास भी शामिल है। मगर सवाल है कि देश की मौजूदा शिक्षा व्यवस्था में क्या इन मानदंडों पर ध्यान दिया जाता है, या फिर शिक्षण संस्थान महज पाठ्यक्रमों का अध्ययन कराने तक ही सीमित हैं? विद्यार्थियों की जान और मानसिक स्वास्थ्य किसी भी परीक्षा और करिअर की उपलब्धि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य केवल सफल पेशेवर तैयार करना नहीं, बल्कि उनमें आत्मविश्वास, संवेदनशीलता, मानवीय मूल्यों की समझ और सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास करना भी होना चाहिए।



Date: 01-10-26

अपनों से बेगानापन झेलने को मजबूर हमारे बुजुर्ग

पंकज चतुर्वेदी

हर साल 1 अक्टूबर को 'अंतरराष्ट्रीय वृद्धजन दिवस' के अवसर पर गोष्ठियां आयोजित होती हैं, वक्तव्य दिए जाते हैं और बुजुर्गों को समाज के लिए अमूल्य बताने वाले नारों की बौछार कर दी जाती है, पर इन औपचारिक आयोजनों के आवरण को हटाकर देखें, तो भारत की कड़वी सामाजिक सच्चाई अत्यंत दुखद और विचारणीय दिखती है। जिस संस्कृति में बुजुर्गों के अनुभवों को जीवन की राह दिखाने वाला प्रकाशपुंज माना जाता रहा है, उसी समाज में उन्हें अनुयोगी सामान समझकर घर के किसी कोने में फेंक देने या वृद्धाश्रमों के सहारे छोड़ देने की आदत गहराती जा रही है। एक हालिया रिपोर्ट में खुलासा हुआ कि बनारस के एक मशहूर वृद्धाश्रम में बीते एक वर्ष के दौरान पचास से अधिक बुजुर्गों की सांसें थम गईं। जब वे जीवित थे, तब उनके परिजनों ने कभी उनकी सुध लेना आवश्यक नहीं समझा। त्रासदी की पराकाष्ठा तो तब देखने को मिली, जब मृत्यु के पश्चात वही परिजन केवल इसलिए शव का दावा करने पहुंचे, ताकि बीमा की धनराशि या पैतृक संपत्ति का स्वामित्व प्राप्त किया जा सके। यह घटना किसी एक शहर या आश्रम की नहीं है, बल्कि उस बदलती सामाजिक मानसिकता की परिचायक है, जहां मानवीय संबंधों की गरमाहट पर स्वार्थ और निष्ठुरता हावी हो चुकी है।

यदि बुजुर्गों को समृद्ध मानव संसाधन मान लिया जाए, तो भारत बहुत संपन्न देश है। साल 2011 की जनगणना के मुताबिक, देश में 10.38 करोड़ बुजुर्ग थे। अनुमान है, 2021 में यह संख्या 13.76 करोड़ और इस साल 17.32 करोड़ हो गई है। एक अनुमान के अनुसार, 2031 में लगभग 19.34 करोड़ बुजुर्ग देश में होंगे और 2036 में यह संख्या 23 करोड़ हो जाएगी। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष का आकलन है कि 2050 में लगभग 34.7 करोड़ संख्या के साथ कुल आबादी में उनकी हिस्सेदारी 20 प्रतिशत से अधिक हो सकती है।

दूसरी ओर, बुजुर्गों की बढ़ती संख्या की तुलना में हमारे यहां माकूल योजना का अभाव है। बुजुर्गों के स्वास्थ्य के लिए सरकारी कार्यक्रम हैं। इसके अलावा, 70 वर्ष और उससे अधिक उम्र के लोगों के लिए आयुष्मान भारत के तहत पांच लाख तक का स्वास्थ्य कवर जोड़ा गया है, लेकिन 60-69 वर्ष के सभी लोगों को केवल उम्र के आधार पर यह कवर नहीं मिलता। गरीब बुजुर्गों के लिए वृद्धावस्था पेंशन उपलब्ध है। हालांकि, यह एक कड़वा सच है कि घर पर देखभाल, सहायक उपकरण और देखभाल-केंद्र जैसी सुविधाएं बहुत कम हैं और इनकी उपलब्धता हर क्षेत्र में समान नहीं है। ढलती उम्र के साथ आने वाली शारीरिक व्याधियां बुजुर्गों को पूरी तरह दूसरों पर निर्भर बना देती हैं। शारीरिक कष्ट से अधिक गहरा आघात उन्हें मानसिक व भावनात्मक अकेलापन पहुंचाता है। एकल परिवारों के बढ़ते चलन, आजीविका की तलाश में बच्चों के प्रवास और घर के भीतर संवादहीनता ने बुजुर्गों को एक गहरी उदासी और अवसाद में धकेल दिया है। जिस उम्र में व्यक्ति को अपने नाती-पोतों का सान्निध्य और सम्मानजनक स्थान मिलना चाहिए, उस उम्र में सूने कमरों की दीवारें निहारने को वे विवश हैं। समाज में वृद्धों के मानसिक स्वास्थ्य पर बात करना आज भी उपेक्षित विषय बना हुआ है और उनके अवसाद को अक्सर उम्र का स्वाभाविक असर मानकर अनदेखा कर दिया जाता है।

यदि हम एक समाज के रूप में यह स्वीकार कर चुके हैं कि जो व्यक्ति आर्थिक रूप से उत्पादक नहीं रहा, उसकी सामाजिक और पारिवारिक उपयोगिता भी समाप्त हो गई, तो यह स्वीकार करना होगा कि हमारी संवेदनाएं बंजर हो चुकी हैं। कानून और सरकारी नीतियां अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं, परंतु जब तक घर-परिवार के भीतर बुजुर्गों के अनुभवों के प्रति आदर भाव और उनकी भावनात्मक जरूरतों के प्रति संवेदनशीलता का पुनर्जागरण नहीं होगा, तब तक 'वृद्धजन दिवस' जैसे आयोजन केवल औपचारिकता बनकर रह जाएंगे। हमें यह स्मरण रखना होगा कि आज हम अपने बुजुर्गों के प्रति जो उपेक्षापूर्ण रवैया अपना रहे हैं, आने वाले कल में वही व्यवहार हमारी प्रतीक्षा कर रहा होगा।
